# विश्व शांतिवादी सम्मेलन और जैन परम्परा

## भूमिका

मि० होरेस अलेक्जैन्डर-प्रमुख कुछ व्यक्तियों ने १९४६ में गाँधीजी के सामने प्रस्ताव रक्खा था कि सत्य और अहिंसा में पूरा विश्वास रखनेवाले विश्व भर के इने गिने शान्तिवादी आपके साथ एक सप्ताह कहीं शान्त स्थान में बितावें। अनन्तर सेवाग्राम में डा० राजेन्द्रप्रसादजी के प्रमुखत्व में विचारार्थ जनवरी १९४९ में मिली हुई बैठक में जैसा तय हुआ था तदनुसार दिसम्बर १९४९ में विश्वभर के ७५ एकनिष्ठ शान्तिवादियों का सम्मेलन मिलने जा रहा है। इस सम्मेलन के आमंत्रणदाताओं में प्रसिद्ध जैन गृहस्थ भी शामिल हैं।

जैन परम्परा अपने जन्मकाल से ही अहिंसावादी और जुदे-जुदे क्षेत्रों में अहिंसा का विविध प्रयोग करनेवाली रही है। सम्मेलन के आयोजकों ने अन्य परिणामों के साथ एक इस परिणाम की भी आशा रक्खी है कि सामाजिक और राजकीय प्रश्नों को अहिंसा के द्वारा हल करने का प्रयत्न करनेवाले विश्व भर के स्त्री-पुरुषों का एक संघ बने। अतएव हम जैनों के लिए आवश्यक हो जाता है कि पहले हम सोचें कि शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति अहिंसावादी रूप से जैन परम्परा का क्या कर्त्तव्य है?

क्रिश्चियन शान्तिवाद हो, जैन अहिंसावाद हो या गाँधीजी का अहिंसा मार्ग हो, सबकी सामान्य भूमिका यह है कि खुद हिंसा से बचना और यथासम्भव लोकहित की विधायक प्रवृत्ति करना। परन्तु इस अहिंसा तत्त्व का विकास सब परम्पराओं में कुछ अंशों में जुदे-जुदे रूप से हुआ है।

## शान्तिवाद

'Thou shalt not kill' इत्यादि बाईबल के उपदेशों के आधार पर क्राईस्ट के पक्के अनुयायिओं ने जो अहिंसामूलक विविध प्रवृत्तियों का विकास किया है उसका मुख्य क्षेत्र मानव समाज रहा है। मानव समाज की नानाविध सेवाओं की सच्ची भावना में से किसी भी प्रकार के युद्ध में, अन्य सब तरह की सामाजिक हित की जवाबदेही को अदा करते हुए भी, सशस्त्र भाग न लेने की वृत्तिका भी उदय अनेक शताब्दियों से हुआ है। जैसे-जैसे क्रिश्चियानिटि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तार होता गया, भिन्न-भिन्न देशों के साथ निकट और दूर का सम्बन्ध जुड़ता गया, सामाजिक और राजकीय जवाबदेही के बढ़ते जाने से उसमें से फलित होनेवाली समस्याओं को हल करने का सवाल पेचीदा होता गया, वैसे-वैसे शांतिवादी मनोवृत्ति भी विकसित होती चली। शुरू में जहाँ वर्ग-युद्ध (Class War), नागरिक युद्ध ( Civil War ) अर्थात् स्वदेश के अन्तर्गत किसी भी लड़ाई-झगड़े में सशस्त्र भाग न लेने की मनोवृत्ति थी वहाँ क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध तक में किसी भी तरह से सशस्त्र भाग न लेने की मनोवृत्ति स्थिर हुई। इतना ही नहीं बल्कि यह भी भाव स्थिर हुआ कि सम्भवित सभी शान्तिपूर्ण उपायों से युद्ध को टालने का प्रयत्न किया जाय और सामाजिक, राजकीय व आर्थिक क्षेत्रों में भी वैषम्य निवारक शान्तिवादी प्रयत्न किये जाएँ। उसी अन्तिम विकसित मनोवृत्ति का सूचक Pacifism ( शांतिवाद ) शब्द लगभग १९०५ से प्रसिद्ध रूप में अस्तित्व में आया।[1] गाँधीजी के अहिंसक पुरुषार्थ के बाद तो Pacifism शब्द का अर्थ और भी व्यापक व उन्नत हुआ है। आज तो Pacifism शब्द के द्वारा हम 'हरेक प्रकार के अन्याय का निवारण करने के लिए बड़ी से बड़ी किसी भी शक्ति का सामना करने का सक्रिय अदम्य आत्मबल' यह अर्थ समझते हैं, जो विश्व शांतिवादी सम्मेलन (World Pacifist Meeting) की भूमिका है।

जैन अहिंसा

जैन परम्परा के जन्म के साथ ही अहिंसा को और तन्मूलक अपरिग्रह की भावना जुड़ी हुई है। जैसे-जैसे इस परम्परा का विकास तथा विस्तार होता गया वैसे-वैसे उस भावना का भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नाना प्रकार का उपयोग व प्रयोग हुआ है। परन्तु जैन परम्परा की अहिंसक भावना, अन्य कतिपय भारतीय धर्म परम्पराओं की तरह, यावत् प्राणिमात्र की अहिंसा व रक्षा में चरितार्थ होती आयी है, केवल मानव समाज तक कभी सीमित नहीं रही है। क्रिश्चियन गृहस्थों में अनेक व्यक्ति या अनेक छोटे-मोटे दल समय-समय पर ऐसे हुए हैं जिन्होंने युद्ध की उग्रतम परिस्थिति में भी उसमें भाग लेने का विरोध मरणान्त कष्ट सहन करके भी किया है जबकि जैन गृहस्थों की स्थिति इससे निराली रही है। हमें जैन इतिहास में ऐसा कोई स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता जिसमें देश रक्षा के संकटपूर्ण क्षणों में आनेवाली सशस्त्र युद्ध तक की जवाबदेही टालने का या उसका विरोध करने का प्रयत्न किसी भी समझदार जवाबदेह जैन गृहस्थ ने किया हो।

1. Encyclopaedia of Religion (Ed. V. Ferm, 1945,) p. 555.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## गाँधीजी की अहिंसा

गाँधीजी जन्म से ही भारतीय अहिंसक संस्कार वाले ही रहे हैं। प्राणिमात्र के प्रति उनकी अहिंसा व अनुकंपा वृत्ति का स्रोत सदा बहता रहा है, जिसके अनेक उदाहरण उनके जीवन में भरे पड़े हैं। गोरक्षा और अन्य पशु-पक्षियों की रक्षा की उनकी हिमायत तो इतनी प्रकट है कि जो किसी से छिपी नहीं है। परन्तु सबका ध्यान खींचनेवाला उनका अहिंसा का प्रयोग दुनिया में अजोड़ गिनी जानेवाली राजसत्ता के सामने बड़े पैमाने पर अशस्त्र प्रतिकार या सत्याग्रह का है। इस प्रयोग ने पुरानी सभी प्राच्य-पाश्चात्य अहिंसक परम्पराओं में जान डाल दी है, क्योंकि इसमें आत्मशुद्धिपूर्वक सबके प्रति न्याय्य व्यवहार करने का दृढ़ संकल्प है और दूसरी तरफ से अन्य के अन्याय के प्रति न झुकते हुए उसका अशस्त्र प्रतिकार करने का प्रबल व सर्वक्षेमंकर पुरुषार्थ है। यही कारण है कि आज का कोई भी सच्चा अहिंसावादी या शांतिवादी गाँधीजी की प्रेरणा की अवगणना कर नहीं सकता। इसी से हम विश्व शांतिवादी सम्मेलन के पीछे भी गाँधीजी का अनोखा व्यक्तित्व पाते हैं।

## निवृत्ति-प्रवृत्ति

जैन कुल में जन्म लेनेवाले बच्चों में कुछ ऐसे सुसंस्कार मातृ-स्तन्यपान के साथ बीजरूप में आते हैं जो पीछे से अनेक प्रयत्नों के द्वारा भी दुर्लभ हैं। उदाहरणार्थ—निर्मांस भोजन, मद्य जैसी नसीली चीजों के प्रति घृणा, किसी को न सताने की तथा किसी के प्राण न लेने की मनोवृत्ति तथा केवल असहाय मनुष्य को ही नहीं बल्कि प्राणिमात्र को संभवित सहायता पहुँचाने की वृत्ति। जन्मजात जैन व्यक्ति में उक्त संस्कार स्वतःसिद्ध होते हुए भी उनकी प्रच्छन्न शक्ति का भान सामान्य रूप से खुद जैनों में भी कम पाया जाता है, जबकि ऐसे ही संस्कारों की भित्ति पर महावीर, बुद्ध, क्राईस्ट और गाँधीजी जैसों के लोककल्याणकारी जीवन का विकास हुआ देखा जाता है। इसलिये हम जैनों को अपने विरासती सुसंस्कारों को पहिचानने की दृष्टि का विकास करना सबसे पहले आवश्यक है जो ऐसे सम्मेलन के अवसर पर अनायास सम्भव है। अनेक लोग संन्यास-प्रधान होने के कारण जैन परम्परा को केवल निवृत्ति-मार्गी समझते हैं और कम समझदार खुद जैन भी अपनी धर्म परम्परा को निवृत्तिमार्गी मानने मनवाने में गौरव लेते हैं। इससे प्रत्येक नई जैन पीढ़ी के मन में एक ऐसा अकर्मण्यता का संस्कार जाने अनजाने पड़ता है जो उसके जन्मसिद्ध अनेक सुसंस्कारों के विकास में बाधक बनता है। इसलिए प्रस्तुत मौके पर यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार करना जरूरी है कि वास्तव में जैन परम्परा निवृत्तगामी ही है या प्रवृत्तिगामी भी है, और जैन परम्परा की दृष्टि से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का सच्चा माने क्या है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर हमें जैन सिद्धान्त में से भी मिलता है और जैन परम्परा के ऐतिहासिक विकास में से भी।

## सैद्धान्तिक दृष्टि

जैन सिद्धान्त यह है कि साधक या धर्म का उम्मेदवार प्रथम अपना दोष दूर करे, अपने आपको शुद्ध करे—तब उसकी सत् प्रवृत्ति सार्थक बन सकती है। दोष दूर करने का अर्थ है दोष से निवृत्त होना। साधक का पहला धार्मिक प्रयत्न दोष या दोषों से निवृत्त होने का ही रहता है। गुरु भी पहले उसी पर भार देते हैं। अतएव जितनी धर्म प्रतिज्ञायें या धार्मिक व्रत हैं वे मुख्यतया निवृत्ति की भाषा में हैं। गृहस्थ हो या साधु, उसकी छोटी-मोटी सभी प्रतिज्ञायें, सभी मुख्य व्रत दोष निवृत्ति से शुरू होते हैं। गृहस्थ स्थूल प्राणहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल परिग्रह आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है और ऐसी प्रतिज्ञा निबाहने का प्रयत्न भी करता है। जबकि साधु सब प्रकार की प्राणहिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेकर उसे निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। गृहस्थ और साधुओं की मुख्य प्रतिज्ञाएँ निवृत्तिसूचक शब्दों में होने से तथा दोष से निवृत्त होने का उनका प्रथम प्रयत्न होने से सामान्य समझवालों का यह खयाल बन जाना स्वाभाविक है कि जैन धर्म मात्र निवृत्तिगामी है। निवृत्ति के नाम पर अवश्यकर्तव्यों की उपेक्षा का भाव भी धर्म संघों में आ जाता है। इसके और भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो मानव-प्रकृति में प्रमाद या परोपजीविता रूप विकृति का होना और दूसरा बिना परिश्रम से या अल्प परिश्रम से जीवन की जरूरतों की पूर्ति हो सके ऐसी परिस्थिति में रहना। पर जैन सिद्धान्त इतने में ही सीमित नहीं है। वह तो स्पष्टतया यह कहता है कि प्रवृत्ति करे पर आसक्ति से नहीं अथवा अनासक्ति से—दोष त्याग पूर्वक प्रवृत्ति करे। दूसरे शब्दों में वह यह कहता है कि जो कुछ किया जाय वह यतना पूर्वक किया जाय। यतना के बिना कुछ न किया जाय। यतना का अर्थ है विवेक और अनासक्ति। हम इन शास्त्राज्ञाओं में स्पष्टतया यह देख सकते हैं कि इनमें निषेध, त्याग या निवृत्ति का जो विधान है वह दोष के निषेध का, नहीं कि प्रवृत्ति मात्र के निषेध का। यदि प्रवृत्तिमात्र के त्याग का विधान होता तो यतना-पूर्वक जीवन प्रवृत्ति करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदेश का कोई भी अर्थ नहीं रहता और प्रवृत्ति न करना इतना मात्र कहा जाता।*

दूसरी बात यह है कि शास्त्र में गुप्ति और समिति—ऐसे धर्म के दो मार्ग हैं। दोनों मार्गों पर बिना चले धर्म की पूर्णता कभी सिद्ध नहीं हो सकती। गुप्ति का मतलब है दोषों से मन, वचन, काया को विरत रखना और समिति का मतलब है विवेक से स्वपरहितावह सत्प्रवृत्ति को करते रहना। सत्प्रवृत्ति बनाए रखने की दृष्टि से जो असत्प्रवृत्ति या दोष के त्याग पर अत्यधिक भार दिया गया है उसीको कम समझवाले लोगों ने पूर्ण मानकर ऐसा समझ लिया कि दोष निवृत्ति से आगे फिर विशेष कर्त्तव्य नहीं रहता। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सच बात यह फलित होती है कि जैसे-जैसे साधना में दोष निवृत्ति होती और बढ़ती जाए वैसे-वैसे सत्प्रवृत्ति की बाजू विकसित होती जानी चाहिए।

जैसे दोष निवृत्ति के सिवाय सत्प्रवृत्ति असम्भव है वैसे ही सत्प्रवृत्ति की गति के सिवाय दोष निवृत्ति की स्थिरता टिकना भी असम्भव है। यही कारण है कि जैन परम्परा में जितने आदर्श पुरुष तीर्थंकर रूप से माने गये हैं उन सभी ने अपना समग्र पुरुषार्थ आत्मशुद्धि करने के बाद सत्प्रवृत्ति में ही लगाया है। इसलिये हम जैन अपने को जब निवृत्तिगामी कहें तब इतना ही अर्थ समझ लेना चाहिए कि निवृत्ति यह तो हमारी यथार्थ प्रवृत्तिगामी धार्मिक जीवन की प्राथमिक तैयारी मात्र है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो भी ऊपर की बात का ही समर्थन होता है। शरीर से भी मन और मन से भी चेतना विशेष शक्तिशाली या गतिशील है। अब हम देखें कि अगर शरीर और मन की गति दोषों से रुकी, चेतना का सामर्थ्य दोषों की ओर गति करने से रुका, तो उनकी गति-दिशा कौन सी रहेगी? वह सामर्थ्य कभी निष्क्रिय या गति-शून्य तो रहेगा ही नहीं। अगर उस सदा-स्फुरत् सामर्थ्य को किसी महान् उद्देश्य की साधना में लगाया न जाए तो फिर

---

* यद्यपि शास्त्रीय शब्दों का स्थूल अर्थ साधु-जीवन का आहार, विहार, निहार सम्बन्धी चर्या तक ही सीमित जान पड़ता है पर इसका तात्पर्य जीवन के सब क्षेत्रों की सब प्रवृत्तियों में यतना लागू करने का है। अगर ऐसा तात्पर्य न हो, तो यतना की व्याप्ति इतनी कम हो जाती है कि फिर वह यतना अहिंसा सिद्धान्त की समर्थ बाजू बन नहीं सकती। समिति शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सब प्रवृत्तियों से है, न कि शब्दों में गिनाई हुई केवल आहार विहार निहार जैसी प्रवृत्तियों में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह ऊर्ध्वगामी योग्य दिशा न पाकर पुराने वासनामय अधोगामी जीवन की ओर ही गति करेगा। यह सर्वसाधारण अनुभव है कि जब हम शुभ भावना रखते हुए भी कुछ नहीं करते तब अन्त में अशुभ मार्ग पर ही आ पड़ते हैं। बौद्ध, सांख्य-योग आदि सभी निवृत्तिमार्गी कही जानेवाली धर्म परम्पराओं का भी वही भाव है जो जैन धर्म-परम्परा का। जब गीता ने कर्मयोग या प्रवृत्ति मार्ग पर भार दिया तब वस्तुतः अनासक्त भाव पर ही भार दिया है।

निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की। ये जीवन के सिक्के की दो बाजुएँ हैं। पूरक का यह भी अर्थ नहीं है कि एक के बाद दूसरी हो, दोनों साथ न हों, जैसे जागृति व निद्रा। पर उसका यथार्थ भाव यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती रहती है भले ही कोई एक अंश प्रधान दिखाई दे। मनमें दोषों की प्रवृत्ति चलती रहने पर भी अनेक बार स्थूल जीवन में निवृत्ति दिखाई देती है जो वास्तव में निवृत्ति नहीं है। इसी तरह अनेक बार मन में वासनाओं का विशेष दबाव न होने पर भी स्थूल जीवन में कल्याणावह प्रवृत्ति का अभाव भी देखा जाता है जो वास्तव में निवृत्ति का ही घातक सिद्ध होता है। अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि दोष निवृत्ति और सद्गुण प्रवृत्ति का कोई विरोध नहीं प्रत्युत दोनों का साहचर्य ही धार्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है। विरोध है तो दोषों से ही निवृत्त होने का और दोषों में ही प्रवृत्त होने का। इसी तरह सद्गुणों में ही प्रवृत्ति करना और उन्हीं से निवृत्त भी होना यह भी विरोध है।

असत्-निवृत्ति और सत्-प्रवृत्ति का परस्पर कैसा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है यह भी विचारने की वस्तु है। जो हिंसा एवं मृषावाद से थोड़ा या बहुत अंशों में निवृत्त हो पर मौका पड़ने पर प्राणिहित की विधायक प्रवृत्ति से उदासीन रहता है या सत्य भाषण की प्रत्यक्ष जवाबदेही की उपेक्षा करता है वह धीरे-धीरे हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति से संचित बल भी गँवा बैठता है। हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब अनुकम्पा की एवं सत्य भाषण की विधायक प्रवृत्ति का प्रश्न सामने आता है। अगर मैं किसी प्राणी या मनुष्य को तकलीफ नहीं देता पर मेरे सामने कोई ऐसा प्राणी या मनुष्य उपस्थित है जो अन्य कारणों से संकटग्रस्त है और उसका संकट मेरे प्रयत्न के द्वारा दूर हो सकता है या कुछ हलका हो सकता है, या मेरी प्रत्यक्ष परिचर्या एवं सहानुभूति से उसे आश्वासन मिल सकता है, फिर भी मैं केवल निवृत्ति की बाजू को ही पूर्ण अहिंसा मान लूँ तो मैं खुद अपनी सद्गुणाभिमुख विकासशील चेतना-शक्ति का गला घोंटता हूँ। मुझमें जो आत्मौपम्य की भावना और जोखिम उठाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सत्य भाषण के द्वारा अन्याय का सामना करने की तेजस्विता है उसे काम में न लाकर कुण्ठित बना देना और पूर्ण आध्यात्मिकता के विकास के भ्रम में पड़ना है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की दो बाजुएँ हैं जिनसे ब्रह्मचर्य पूर्ण होता है। मैथुन विरमण यह शक्तिसंग्राहक निवृत्त की बाजू है। पर उसके द्वारा संगृहीत शक्ति और तेज का विधायक उपयोग करना यही प्रवृत्ति की बाजू है। जो मैथुन-विरत व्यक्ति अपनी संचित वीर्य शक्ति का अधिकारानुरूप लौकिक लोकोत्तर भलाई में उपयोग नहीं करता है वह अन्त में अपनी उस संचित वीर्य-शक्ति के द्वारा ही या तो तामसवृत्ति बन जाता है या अन्य अकृत्य की ओर झुक जाता है। यही कारण है कि मैथुनविरत ऐसे लाखों बाबा संन्यासी अब भी मिलते हैं जो परोपजीवी क्रोधमूर्ति और विविध बहमों के घर हैं।

## ऐतिहासिक दृष्टि

अब हम ऐतिहासिक दृष्टि से निवृत्ति और प्रवृत्ति के बारे में जैन परम्परा का झुकाव क्या रहा है सो देखें। हम पहिले कह चुके हैं कि जैन कुल में मांस मद्य आदि व्यसन त्याग, निरर्थक पापकर्म से विरति जैसे निषेधात्मक सुसंस्कार और अनुकम्पा मूलक भूतहित करने की वृत्ति जैसे भावात्मक सुसंस्कार विरासती हैं। अब देखना होगा कि ऐसे संस्कारों का निर्माण कैसे शुरू हुआ, उनकी पुष्टि कैसे-कैसे होती गई और उनके द्वारा इतिहास काल में क्या-क्या घटनाएँ घटीं।

जैन परम्परा के आदि प्रवर्तक माने जानेवाले ऋषभदेव के समय जितने अन्धकार युग को हम छोड़ दें तो भी हमारे सामने नेमिनाथ का उदाहरण स्पष्ट है, जिसे विश्वसनीय मानने में कोई आपत्ति नहीं। नेमिनाथ देवकीपुत्र कृष्ण के चचेरे भाई और यदुवंश के तेजस्वी तरुण थे। उन्होंने ठीक लग्न के मौके पर मांस के निमित्त एकत्र किए गये सैकड़ों पशुपक्षियों को लग्न में असहयोग के द्वारा जो अभयदान दिलाने का महान् साहस किया, उसका प्रभाव सामाजिक समारम्भ में प्रचलित चिरकालीन मांस भोजन की प्रथा पर ऐसा पड़ा कि उस प्रथा की जड़ हिल-सी गई। एक तरफ से ऐसी प्रथा शिथिल होने से मांस-भोजन त्याग का संस्कार पड़ा और दूसरी तरफ से पशु-पक्षियों को मारने से बचाने की विधायक प्रवृत्ति भी धर्म्य गिनी जाने लगी। जैन परम्परा के आगे के इतिहास में हम जो अनेक अहिंसापोषक और प्राणिरक्षक प्रयत्न देखते हैं उनके मूल में नेमिनाथ की त्याग-घटना का संस्कार काम कर रहा है।

पार्श्वनाथ के जीवन में एक प्रसङ्ग ऐसा है जो ऊपर से साधारण लगता है पर निवृत्ति-प्रवृत्ति के विचार से वह असाधारण है। पार्श्वनाथ ने देखा कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक तापस जो पंचाग्नि तप कर रहा है उसके आस-पास जलने वाली बड़ी-बड़ी लकड़ियों में साँप भी जल रहा है। उस समय पार्श्वनाथ ने चुपकी न पकड़ कर तात्कालिक प्रथा के विरुद्ध और लोकमत के विरुद्ध आवाज उठाई और अपने पर आने वाली जोखिम की परवाह नहीं की। उन्होंने लोगों से स्पष्ट कहा कि ऐसा तप अधर्म है जिसमें निरपराध प्राणी मरते हों। इस प्रसङ्ग पर पार्श्वनाथ मौन रहते तो उन्हें कोई हिंसाभागी या मृषावादी न कहता। फिर भी उन्होंने सत्य भाषण का प्रवृत्ति-मार्ग इसलिये अपनाया कि स्वीकृत धर्म की पूर्णता कभी केवल मौन या निवृत्ति से सिद्ध नहीं हो सकती।

चतुर्याम के पुरस्कर्त्ता ऐतिहासिक पार्श्वनाथ के बाद पंचयाम के समर्थक भगवान् महावीर आते हैं। उनके जीवन की कुछ घटनाएँ प्रवृत्तिमार्ग की दृष्टि से बहुत सूचक हैं। महावीर ने समता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मात्र व्यक्तिगत न रखकर उसका धर्म दृष्टि से सामाजिक क्षेत्र में भी प्रयोग किया है। महावीर जन्म से किसी मनुष्य को ऊँचा या नीचा मानते न थे। सभी को सद्गुण-विकास और धर्माचरण का समान अधिकार एक-सा है—ऐसा उनका दृढ़ सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त को तत्कालीन समाज-क्षेत्र में लागू करने का प्रयत्न उनकी धर्ममूलक प्रवृत्ति की बाजू है। अगर वे केवल निवृत्ति में ही पूर्ण धर्म समझते तो अपने व्यक्तिगत जीवन में अस्पृश्यता का निवारण करके संतुष्ट रहते। पर उन्होंने ऐसा न किया। तत्कालीन प्रबल बहुमत की अन्याय्य मान्यता के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाया और मेतार्य तथा हरिकेश जैसे सबसे निकृष्ट गिने जानेवाले अस्पृश्यों को अपने धर्म संघ में समान स्थान दिलाने का द्वार खोल दिया। इतना ही नहीं बल्कि हरिकेश जैसे तपस्वी आध्यात्मिक चण्डाल को छुआछूत में आन-खशिख डूबे हुए जात्यभिमानी ब्राह्मणों के धर्मवाटों में भेजकर गाँधीजी के द्वारा समर्थित मन्दिर में अस्पृश्य प्रवेश जैसे विचार के धर्म बीज बोने का समर्थन भी महावीरानुयायी जैन परम्परा ने किया है। यज्ञ यागादि में अनिवार्य मानी जाने-वाली पशु आदि प्राणी हिंसा से केवल स्वयं पूर्णतया विरत रहते तो भी कोई महावीर या महावीर के अनुयायी त्यागी को हिंसाभागी नहीं कहता। पर वे धर्म के मर्म को पूर्णतया समझते थे। इसीसे जयघोष जैसे वीर साधु यज्ञ के महान् सभारंभ पर विरोध की व संकट की परवाह बिना किए अपने अहिंसा सिद्धान्त को क्रियाशील व जीवित बनाने जाते हैं। और अन्त में उस यज्ञ में मारे जानेवाले पशु को प्राण से तथा मारनेवाले याज्ञिक को हिंसावृत्ति से बचा लेते हैं। यह अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू नहीं तो और क्या है? खुद महावीर के समक्ष उनका पूर्व सहचारी गोशालक आया और अपने आपको वास्तविक स्वरूप से छिपाने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरसक प्रयत्न किया। महावीर उस समय चुप रहते तो कोई उन्हें मृषावाद-विरति के महाव्रत से च्युत न गिनता। पर उन्होंने स्वयं सत्य देखा और सोचा कि असत्य न बोलना इतना ही उस व्रत के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि असत्यवाद का साक्षी होना यह भी भयमूलक असत्यवाद के बराबर ही है। इसी विचार से गोशालक की अत्युग्र रोषप्रकृति को जानते हुए भी भावी संकट की परवाह न कर उसके सामने वीरता से सत्य प्रकट किया और दुर्वासा जैसे गोशालक के रोषाग्नि के दुःसह ताप के कटुक अनुभव से भी कभी सत्य-संभाषण का अनुताप न किया।

अब हम सुविदित ऐतिहासिक घटनाओं पर आते हैं। नेमिनाथ की ही प्राणि-रक्षण की परम्परा को सजीव करनेवाले अशोक ने अपने धर्मशासनों में जो आदेश दिए हैं, ये किसी से भी छिपे नहीं हैं। ऐसा एक धर्मशासन तो खुद नेमिनाथ की ही साधना-भूमि में आज भी नेमिनाथ की परंपरा को याद दिलाता है। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने प्राणियों की हिंसा रोकने व उन्हें अभय-दान दिलाने का राजोचित प्रवृत्ति मार्ग का पालन किया है।

बौद्ध कवि व सन्त मातृचेट का कणिकालेख इतिहास में प्रसिद्ध है। कनिष्क के आमंत्रण पर अति बुढ़ापे के कारण जब मातृचेट भिक्षु उनके दरबार में न जा सके तो उन्होंने एक पद्यबद्ध लेख के द्वारा आमंत्रणदाता कनिष्क जैसे शक नृपति से पशु-पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान दिलाने की भिक्षा मांगी। हर्ष-वर्धन, जो एक पराक्रमी धर्मवीर सम्राट था, उसने प्रवृत्ति मार्ग को कैसे विकसित किया यह सर्वविदित है। वह हर पाँचवें साल अपने सारे खजाने को भलाई में खर्च करता था। इससे बढ़कर अपरिग्रह की प्रवृत्ति बाजू का राजोचित उदाहरण शायद ही इतिहास में हो।

गुर्जर सम्राट् शैव सिद्धराज को कौन नहीं जानता? उसने मलधारी आचार्य अभयदेव तथा हेमचन्द्रसूरि के उपदेशानुसार पशु, पक्षी आदि प्राणियों को अभयदान देकर अहिंसा की प्रवृत्ति बाजू का विकास किया है। उसका उत्तरा-धिकारी कुमारपाल तो परमार्हत ही था। उसने कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों को जीवन में इतना अधिक अपनाया कि विरोधी लोग उसकी प्राणि-रक्षा की भावना का परिहास तक करते रहे। जो कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से युद्धों में भाग भी लेता था वही कुमारपाल अमारि-घोषणा के लिए प्रख्यात है।

अकबर, जहाँगिर जैसे मांसभोजी व शिकारशोखी मुसलिम बादशाहों से हीरविजय, शान्तिचन्द्र, भानुचन्द्र आदि साधुओं ने जो काम कराया वह अहिंसा धर्म की प्रवृत्ति बाजू का प्रकाशमान उदाहरण है। ये साधु तथा उनके अनुगामी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गृहस्थलोग अपने धर्मस्थानों में हिंसा से विरत रहकर अहिंसा के आचरण का संतोष धारण कर सकते थे। पर उनकी सहजसिद्ध आत्मौपम्यकी वृत्ति निष्क्रिय न रही। उस वृत्ति ने उनको विभिन्नधर्मी शक्तिशाली बादशाहों तक साहस पूर्वक अपना ध्येय लेकर जाने की प्रेरणा की और अन्त में वे सफल भी हुए। उन बादशाहोंके शासनादेश आज भी हमारे सामने हैं, जो अहिंसा धर्म की गतिशीलता के साक्षी हैं।

गुजरात के महामात्य वस्तुपाल का नाम कौन नहीं जानता ? वह अपनी धन-राशि का उपयोग केवल अपने धर्मपंथ या साधुसमाज के लिए ही करके सन्तुष्ट न रहा। उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए अनेक कामों में अति उदारता से धन का सदुपयोग करके दान मार्ग की व्यापकता सिद्ध की। जगडु शाह जो एक कच्छ का व्यापारी था और जिसके पास अन्न घास आदि का बहुत बड़ा संग्रह था उसने उस सारे संग्रह को कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात व्यापी तीन वर्ष के दुर्भिक्ष में यथोयोग्य बाँट दिया व पशु तथा मनुष्य की अनुकरणीय सेवा द्वारा अपने संग्रह की सफलता सिद्ध की।

नेमिनाथ ने जो पशु पक्षी आदि की रक्षा का छोटा सा धर्मबीजवपन किया था, और जो मांसभोजन त्याग की नींव डाली थी उसका विकास उनके उत्तराधिकारियों ने अनेक प्रकार से किया है, जिसे हम ऊपर संक्षेप में देख चुके। पर यहाँ पर एक दो बातें खास उल्लेखनीय हैं। हम यह कबूल करते हैं कि पिंजरापोल की संस्था में समयानुसार विकास करने की बहुत गुंजाइश है और उसमें अनेक सुधारने योग्य त्रुटियां भी हैं। पर पिंजरापोल की संस्था का सारा इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है कि पिंजरापोल के पीछे एक मात्र प्राणि-रक्षा और जीवदया की भावना ही सजीव रूप में वर्त्तमान है। जिन लाचार पशु-पक्षी आदि प्राणियों को उनके मालिक तक छोड़ देते हैं, जिन्हें कोई पानी तक नहीं पिलाता उन प्राणियों की निष्काम भाव से आजीवन परिचर्या करना, इसके लिए लाखों रुपए खर्च करना, यह कोई साधारण धर्म संस्कार का परिणाम नहीं है। गुजरात व राजस्थान का ऐसा शायद ही कोई स्थान हो जहाँ पिंजरापोल का कोई न कोई स्वरूप वर्त्तमान न हो। वास्तव में नेमिनाथ ने पिंजरबद्ध प्राणियों को अभयदान दिलाने का जो तेजस्वी पुरुषार्थ किया था, जान पड़ता है, उसी की यह चिरकालीन धर्मस्मृति उन्हीं के जन्मस्थान गुजरात में चिरकाल से व्यापक रूप से चली आती है, और जिसमें आम जनता का भी पूरा सहयोग है। पिंजरापोल की संस्थाएँ केवल लूले लंगड़े लाचार प्राणियों की रक्षा के कार्य तक ही सीमित नहीं हैं। वे अतिवृष्टि दुष्काल आदि संकटपूर्ण समय में दूसरी भी अनेकविध सम्भवित प्राणिरक्षण-प्रवृत्तियाँ करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा व दया के विकास का पुराना इतिहास देखकर तथा निर्मांस भोजन की व्यापक प्रथा और जीव दया की व्यापक प्रवृत्ति देखकर ही लोकमान्य तिलक ने एक बार कहा था कि गुजरात में जो अहिंसा है, वह जैन परम्परा का प्रभाव है। यह ध्यान में रहे कि यदि जैन परम्परा केवल निवृत्ति बाजू का पोषण करने में कृतार्थता मानती तो इतिहास का ऐसा भव्य रूप न होता जिससे तिलक जैसों का ध्यान खिंचता।

हम "जीव दया मण्डली" की प्रवृत्ति को भूल नहीं सकते। वह करीब ४० वर्षों से अपने सतत प्रयत्न के द्वारा इतने अधिक जीव दया के कार्य कराने में सफल हुई है कि जिनका इतिहास जानकर सन्तोष होता है। अनेक प्रान्तों में व राज्यों में धार्मिक मानी जाने वाली प्राणिहिंसा को तथा सामाजिक व वैयक्तिक मांस भोजन की प्रथा को उसने बन्द कराया है व लाखों प्राणियों को जीवित दान दिलाने के साथ-साथ लाखों स्त्री पुरुषों में एक आत्मौपम्य के सुसंस्कार का समर्थ बीजवपन किया है।

वर्तमान में सन्तबालका नाम उपेक्ष्य नहीं है। वह एक स्थानकवासी जैन मुनि है। वह अपने गुरू या अन्य धर्म-सहचारी मुनियों की तरह अहिंसा की केवल निष्क्रिय बाजू का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर सकता था, पर गांधीजी के व्यक्तित्व ने उसकी आत्मा में अहिंसा की भावात्मक प्रेमज्योति को सक्रिय बनाया। अतएव वह रूढ़ लोकापवाद की बिना परवाह किए अपनी प्रेमवृत्ति को कृतार्थ करने के लिए पंच महाव्रत की विधायक बाजू के अनुसार नानाविध मानवहित की प्रवृत्तियों में निष्काम भाव से कूद पड़ा जिसका काम आज जैन जैनेतर सब लोगों का ध्यान खींच रहा है।

### जैन ज्ञान-भाण्डार, मन्दिर, स्थापत्य व कला

अब हम जैन परम्परा की धार्मिक प्रवृत्ति बाजू का एक और भी हिस्सा देखें जो कि खास महत्त्व का है और जिसके कारण जैन परंपरा आज जीवित व तेजस्वी है। इस हिस्से में ज्ञानभण्डार, मन्दिर और कला का समावेश होता है। सैकड़ों वर्षों से जगह-जगह स्थापित बड़े-बड़े ज्ञान-भाण्डारों में केवल जैन शास्त्र का या अध्यात्मशास्त्र का ही संग्रह रक्षण नहीं हुआ है बल्कि उसके द्वारा अनेकविध लौकिक शास्त्रों का असाम्प्रदायिक दृष्टि से संग्रह संरक्षण हुआ है। क्या वैद्यक, क्या ज्योतिष, क्या मन्त्र तन्त्र, क्या संगीत, क्या सामुद्रिक, क्या भाषा-शास्त्र, काव्य, नाटक, पुराण, अलंकार व कथाग्रंथ और क्या सर्व दर्शन संबन्धी महत्व के शास्त्र—इन सबों का ज्ञानभाण्डारों में संग्रह संरक्षण ही नहीं हुआ है बल्कि इनके अध्ययन व अध्यापन के द्वारा कुछ विशिष्ट विद्वानों ने ऐसी प्रतिभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलक नव कृतियाँ भी रची हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और मौलिक गिनी जाने लायक हैं तथा जो विश्वसाहित्य के संग्रह में स्थान पाने योग्य हैं। ज्ञानभाण्डारों में से ऐसे ग्रंथ मिले हैं जो बौद्ध आदि अन्य परंपरा के हैं और आज दुनियाँ के किसी भी भाग में मूलस्वरूप में अभी तक उपलब्ध भी नहीं हैं। ज्ञानभाण्डारों का यह जीवनदायी कार्य केवल धर्म की निवृत्ति बाजू से सिद्ध हो नहीं सकता।

यों तो भारत में अनेक कलापूर्ण धर्मस्थान हैं, पर चामुण्डराय प्रतिष्ठित गोमटेश्वर की मूर्ति की भव्यता व विमल शाह तथा वस्तुपाल आदि के मन्दिरों के शिल्प स्थापत्य ऐसे अनोखे हैं कि जिन पर हर कोई मुग्ध हो जाता है। जिनके हृदय में धार्मिक भावना की विधायक सौन्दर्य की बाजू का आदरपूर्ण स्थान न हो, जो साहित्य व कला का धर्मपोषक मर्म न जानते हों वे अपने धन के खजाने इस बाजू में खर्च कर नहीं सकते।

## व्यापक लोकहित की दृष्टि

पहले से आज तक में अनेक जैन गृहस्थों ने केवल अपने धर्म समाज के हित के लिए ही नहीं बल्कि साधारण जन समाज के हित की दृष्टि से आध्यात्मिक ऐसे कार्य किए हैं, जो व्यावहारिक धर्म के समर्थक और आध्यात्मिकता के पोषक होकर सामाजिकता के सूचक भी हैं। आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षणालय, वाचनालय, अनाथालय जैसी संस्थाएँ ऐसे कार्यों में गिने जाने योग्य हैं।

ऊपर जो हमने प्रवर्तक धर्म की बाजू का संक्षेप में वर्णन किया है, वह केवल इतना ही सूचन करने के लिए कि जैन धर्म जो एक आध्यात्मिक धर्म व मोक्षवादी धर्म है वह यदि धार्मिक प्रवृत्तियों का विस्तार न करता और ऐसी प्रवृत्तियों से उदासीन रहता तो न सामाजिक धर्म बन सकता, न सामाजिक धर्म रूप से जीवित रह सकता और न क्रियाशील लोक समाज के बीच गौरव का स्थान पा सकता। ऊपर के वर्णन का यह बिलकुल उद्देश्य नहीं है कि अतीत गौरव की गाथा गाकर आत्मप्रशंसा के मिथ्या भ्रम का हम पोषण करें और देशकालानुरूप नए-नए आवश्यक कर्त्तव्यों से मुँह मोड़ें। हमारा स्पष्ट उद्देश्य तो यही है कि पुरानी व नई पीढ़ी को हजारों वर्ष के विरासती सुसंस्कार की याद दिलाकर उनमें कर्त्तव्य की भावना प्रदीप्त करें तथा महात्माजी के सेवाकार्यों की ओर आकृष्ट करें।

## गांधीजी की सूझ

जैन परम्परा पहले ही से अहिंसा धर्म का अत्यन्त आग्रह रखती आई है। पर सामाजिक धर्म के नाते देश तथा सामाज के नानाविध उत्थान-पतनों में जब-जब शस्त्र धारण करने का प्रसंग आया तब-तब उसने उससे भी मुँह न मोड़ा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि शस्त्र धारण के द्वारा सामाजिक हित के रक्षाकार्य का अहिंसा के आत्यन्तिक समर्थन के साथ मेल बिठाना सरल न था पर गांधीजी के पहिले ऐसा कोई अशस्त्र युद्ध का मार्ग खुला भी न था। अतएव जिस रास्ते अन्य जनता जाती रही उसी रास्ते जैन जनता भी चली। परन्तु गांधीजी के बाद तो युद्ध का कर्मक्षेत्र सच्चा धर्मक्षेत्र बन गया। गांधीजी ने अपनी अपूर्व सूझ से ऐसा मार्ग लोगों के सामने रखा जिसमें वीरता की पराकाष्ठा जरूरी है और सो भी शस्त्र धारण बिना किए ही। जब ऐसे अशस्त्र प्रतिकार का अहिंसक मार्ग सामने आया तब वह जैन परम्परा के मूलगत अहिंसक संस्कारों के साथ सविशेष संगत दिखाई दिया। यही कारण है कि गांधीजी की अहिंसामूलक सभी प्रवृत्तियों में जैन स्त्री-पुरुषों ने अपनी संख्या के अनुपात से तुलना में अधिक ही भाग लिया और आज भी देश के कोने-कोने में भाग ले रहे हैं। गांधीजी की अहिंसा की रचनात्मक अमली सूझ ने अहिंसा के दिशाशून्य उपासकों के सामने इतना बड़ा आदर्श और कार्यक्षेत्र रखा है जो जीवन की इसी लोक में स्वर्ग और मोक्ष की आकांक्षा को सिद्ध करने वाला है।

### अपरिग्रह व परिग्रह-परिमाण व्रत

प्रस्तुत शान्तिवादी सम्मेलन जो शान्तिनिकेतन में गांधीजी के सत्य अहिंसा के सिद्धान्त को वर्तमान अति संघर्षप्रधान युग में अमली बनाने के लिए विशेष ऊहापोह करने को मिल रहा है, उसमें अहिंसा के विरासती संस्कार धारण करने वाले हम जैनों का मुख्य कर्तव्य यह है कि अहिंसा की साधना की हरएक बाजू में भाग लें। और उसके नवीन विकास को अपनाकर अहिंसक संस्कार के स्तर को ऊँचा उठावें। परन्तु यह काम केवल चर्चा या मौखिक सहानुभूति से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए जिस एक तत्त्व का विकास करना जरूरी है वह है अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण व्रत।

उक्त व्रत पर जैन परम्परा इतना अधिक भार देती आई है कि इसके बिना अहिंसा के पालन को सर्वथा असम्भव तक माना है। त्यागिवर्ग स्वीकृत अपरिग्रह की प्रतिज्ञा को सच्चे अर्थ में तब तक कभी पालन नहीं कर सकते जब तक वे अपने जीवन के अंग प्रत्यंग को स्वावलम्बी और सादा न बनावें। पुरानी रूढ़ियों के चक्र में पड़कर जो त्याग तथा सादगी के नाम पर दूसरों के श्रम का अधिकाधिक फल भोगने की प्रथा रूढ़ हो गई है उसे गांधीजी के जीवित उदाहरण द्वारा हटाने में व महावीर की स्वावलम्बी सच्ची जीवन प्रथा को अपनाने में आज कोई संकोच होना न चाहिए। यही अपरिग्रह व्रत का तात्पर्य है।

जैन परम्परा में गृहस्थवर्ग परिग्रह-परिमाण व्रत पर अर्थात् स्वतन्त्र इच्छा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक परिग्रह की मर्यादा को संकुचित बनाने के संकल्प पर हमेशा भार देता आया है। पर उस व्रत की यथार्थ आवश्यकता और उसका मूल्य जितना आज है, उतना शायद ही भूतकाल में रहा हो। आज का विश्वव्यापी संघर्ष केवल परिग्रहमूलक है। परिग्रह के मूल में लोभवृत्ति ही काम करती है। इस वृत्ति पर ऐच्छिक अंकुश या नियन्त्रण बिना रखे न तो व्यक्ति का उद्धार है न समाज का और न राष्ट्र का। लोभ वृत्ति के अनियन्त्रित होने के कारण ही देश के अन्दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खींचातानी व युद्ध की आशंका है, जिसके निवारण का उपाय सोचने के लिए प्रस्तुत सम्मेलन हो रहा है। इसलिए जैन परम्परा का प्रथम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य तो यही है कि वह परिग्रह-परिमाण व्रत का आधुनिक दृष्टि से विकास करे। सामाजिक, राजकीय तथा आर्थिक समस्याओं के निपटारे का अगर कोई कार्यसाधक अहिंसक इलाज है तो वह ऐच्छिक अपरिग्रह व्रत या परिग्रह-परिमाण व्रत ही है।

अहिंसा को परम धर्म माननेवाले और विश्व शांतिवादी सम्मेलन के प्रति अपना कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य समझकर उसे अदा करने की वृत्तिवाले जैनों को पुराने परिग्रह-परिमाण व्रत का नीचे लिखे माने में नया अर्थ फलित करना होगा और उसके अनुसार जीवन व्यवस्था करनी होगी।

(१) जिस समाज या राष्ट्र के हम अंग या घटक हों उस सारे समाज या राष्ट्र के सर्वसामान्य जीवन धोरण के समान ही जीवन धोरण रखकर तदनुसार जीवन की आवश्यकताओं का घटना या बढ़ना।

(२) जीवन के लिए अनिवार्य जरूरी वस्तुओं के उत्पादन के निमित्त किसी-न-किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किए बिना ही दूसरे के वैसे श्रमपर, शक्ति रहते हुए भी, जीवन जीने को परिग्रह-परिमाण व्रत का बाधक मानना।

(३) व्यक्ति की बची हुई या संचित सब प्रकार की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसके कुटुम्ब या परिवार का उतना ही होना चाहिए जितना समाज या राष्ट्र का। अर्थात् परिग्रह-परिमाण व्रत के नए अर्थ के अनुसार समाज तथा राष्ट्र से पृथक् कुटुम्ब परिवार का स्थान नहीं है।

ये तथा अन्य ऐसे जो जो नियम समय-समय की आवश्यकता के अनुसार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से फलित होते हों, उनको जीवन में लागू करके गांधीजी के राह के अनुसार औरों के सामने सबक उपस्थित करना यही हमारा विश्व शान्तिवादी सम्मेलन के प्रति मुख्य कर्त्तव्य है ऐसी हमारी स्पष्ट समझ है।

ई० १९४९ ]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org